

[ISSN : 2348-2605]

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान  
शोध पत्रिका

(त्रैमासिक हिन्दी  
एवं  
सामाजिक विज्ञान  
पत्रिका)

[www.gejournal.net](http://www.gejournal.net)

E-mail: [hindires@gmail.com](mailto:hindires@gmail.com)

अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान  
शोध पत्रिका  
(त्रैमासिक हिन्दी एवं सामाजिक विज्ञान पत्रिका)



## डॉ बोहती देवी

मानव जीवन एक गतिशील प्रक्रिया है। सामाजिकता के कारण मनुष्य के मानवीय संबंधों में परिवर्तन होते रहते हैं। यह परिवर्तन मनुष्य जीवन का स्वभाव है। यही परिवर्तन आगे चलकर सामाजिक चेतना में परिवर्तन के कारण बनते हैं। मानव जीवन में आये परिवर्तनों का कारण समाज में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस लए समाज को एक परिवर्तनशील संगठन भी कहा जा सकता है। ऐसा इस लए भी क समाज की चेतना में भी परिवर्तन होते रहते हैं। प्रारंभ से ही देखा जाय तो समाज कई महापुरुषों, वचारों आदि के प्रभाव में पुरानी और गैरजरूरी पड़ गयी चीजों को त्यागता रहता है और नये को ग्रहण करता रहता है। यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी के वचारों को इन्हीं संदर्भों की व्याख्या के लए देखा जा सकता है। समाज के इसी त्याग और ग्रहण को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं क 'यह समाज न जाने कतने ग्रहण और त्याग का परिणाम है।' समय-समय पर वचारक, समाजसेवी आते रहे और समाज की चेतना को परिवर्तित करते रहे। भारत में आर्य समाज, ब्रह्म समाज, गांधी, बाबा साहेब अम्बेडकर जैसे आंदोलनों और व्यक्तियों के कारण भारत वर्ष के लोगों के संकीर्ण धर्मक, सामाजिक मान्यताओं का अंत हुआ। लोगों के सोचने की दिशा परिवर्तित हुई। कई सामाजिक आंदोलनों और प्रगतिशील वचारों के कारण जातियों के सामाजिक स्तरीकरण तथा पदानुक्रम में काफी परिवर्तन हुए। ये सारे परिवर्तन और बदलाव सकारात्मक थे जिससे भारत में संस्कृतिकरण को काफी बल मला। समय के साथ-साथ व भन्न पीढ़ियों की सांस्कृतिक आवश्यकताओं और वचारों में भी परिवर्तन होता है। मनुष्य का समाज एक परिवर्तनशील संरचना है। मानवीय आवश्यकताएँ, जीवन-मूल्य, नवीन आविष्कार आदि सामाजिक चेतना का निर्धारण करते हैं। जब-जब इन तत्वों में परिवर्तन होता है तब उसी के साथ समाज और सामाजिक चेतना दोनों में परिवर्तन होता है। मानवीय संबंधों की श्रेणी में उत्पादन संबंध भी आते है। उत्पादन प्रणाली के व भन्न साधनों के विकास के साथ-साथ सामाजिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं का भी विकास होता है। उत्पादन प्रणाली में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं इन्हीं परिवर्तनों के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था राजीनैतिक मतों और संस्थाओं, वचारों में परिवर्तन होता है। "मनुष्य का जीवन मूलतः उत्पादन पर आधारित है, अतः उत्पादन-प्रणाली व प्रक्रिया में परिवर्तन के साथ ही सामाजिक संबंधों, संस्थाओं और वचारों-संवेदनाओं में भी परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इसी कारण सामाजिक ढाँचे में भी

जो मार्क्सवाद के अनुसार एक 'सुपर स्ट्रक्चर' है। उत्पादन-प्रणाली के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होते रहना आवश्यक है।" मार्क्सवादी वचारधारा आर्थिक आधार को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानती है। यहाँ तक की उसकी मान्यता है क यदि मनुष्य की आर्थिक स्थिति बदल दी जाय तो उसका सौन्दर्य बोध भी बदल जायेगा। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए कहा जाता है क "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित संबंध कायम करते हैं जो अनिवार्य होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं उत्पादन के ये संबंध उनकी भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की कसी मंजिल के अनुरूप होते हैं। उत्पादन के इन संबंधों के कुल जोड़ से समाज की वह आर्थिक संरचना बनती है जो वास्तविक आधार होती है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित प्रकार होते हैं।"

यहाँ सवाल यह उठता है कि मनुष्य और उसके समाज की प्रत्येक स्थिति में परिवर्तन का आधार केवल आर्थिक ही कैसे हो सकता है। क्योंकि “मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार केवल आर्थिक नहीं हो सकता। मनुष्य आर्थिक आवश्यकताओं से ऊपर उठकर दूसरों के लिए त्याग करता और कष्ट उठाता है। इस तरह के मानवीय मूल्य किसी आर्थिक आवश्यकता से उत्पन्न नहीं हैं। मनुष्य की चेतना के विकास को केवल आर्थिक आधारों पर नहीं समझा जा सकता। मनुष्य में चेतना है- चाहे वह पदार्थ में से ही कई गुणात्मक परिवर्तनों के बाद एक सत हुई हो- और इस कारण वह अपनी चेतना का उपयोग प्रकृति के नियमों को अपने अनुकूल इस्तेमाल करने के लिए कर सकता है जो प्रकृति नहीं कर सकती।”

बावजूद इसके उत्पादन प्रणाली और जीविका अर्जन की प्रणाली में जब परिवर्तन आते हैं तो सारे सामाजिक संबंध बदल जाते हैं। कोई भी सामाजिक परिवर्तन बिना किसी आंदोलन या क्रांति के बिना संभव नहीं होता है। आंदोलनों और क्रांतियों के कारण ही एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का उदय होता है। इस नयी व्यवस्था में एक नये वर्ग का भी उदय होता है। यह नया वर्ग पुरानी व्यवस्था का उत्पीड़ित समूह होता है जो अपने अधिकारों, आवश्यकताओं के लिए लड़कर अपने अस्तित्व की रक्षा करता है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में पहले नये-पुराने का यह संघर्ष काफी जटिल होता है लेकिन जब नया वर्ग अपना एक स्थान सुनिश्चित कर लेता है तब यह संघर्ष सामान्य रूप से चलने लगता है। सामाजिक परिवर्तन में व्यक्तियों और वचारों, सद्धान्तों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। ये वचार ही नए वचारों को तथा सद्धान्तों को उत्पन्न करते हैं। नई परिस्थितियाँ वषय बनकर जनता के स्वयं के वचार बन जाते हैं। सामाजिक परिवर्तन को एक सामान्य प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हुए अगस्ट काँम्टे कहते हैं कि “मानव समाज एक निश्चित क्रम के आधार पर ही प्रगति करता है इस लिए इसके अंतर्गत उन नियमों को खोजा जाना चाहिए जो सामाजिक घटनाओं की क्रमिक निरंतरता को बताते हैं तथा उन नियमों की भी खोज की जानी चाहिए जो मानव समाज में संशोधन एवं संवर्द्धन करते हैं मानव विकास की दशा निर्धारित करते हैं।”

चेतना अपने गतिशील स्वरूप के साथ ही सामाजिक चेतना को वस्तुतः देती है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या जो मार्क्सवाद से प्रभावित है वह यह मानती है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति चाहे वह राजनीतिक हो या सामाजिक, आर्थिक कारणों से ही प्रभावित होती है। आर्थिक कारणों का प्रादुर्भाव संसाधनों के असमान वितरण से होता है। बौद्धिक विकास के उच्च स्तर पर पहुँच कर समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों में टकराव प्रारम्भ हो जाती है। यही टकराव अपनी चरम परिणति और वैचारिक आधारों के साथ क्रांति को जन्म देती है। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ ही उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आता है। उत्पादन प्रणाली में हुए परिवर्तन से मनुष्य के सामाजिक संबंध प्रभावित होते हैं। परिवर्तन की इसी प्रणाली में समाज का आर्थिक ढाँचा निर्मित होता है। इसी आधार पर धर्म, कानून राजनीति आदि का ढाँचा तैयार होता है। इन्हीं बन रही नई परिस्थितियों के अनुकूल सामाजिक चेतना अपना एक निश्चित स्वरूप धारण करती है। द्वन्द्ववात्मक भौतिकवाद के अनुसार परिवर्तन की व्यापक स्थिति जब परिणात्मक परिवर्तन गुणात्मक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर देता है। परिवर्तन की यह लय सामाजिक विकास की दिशा तय करती है। परिवर्तित सामाजिक विकास की यह स्थिति सामाजिक चेतना को भी परिवर्तित कर देती है।

जिस तरह से द्वन्द्ववात्मकता प्रकृति का सत्य है उसी तरह से परिवर्तन सामाजिक चेतना का सत्य है। मनुष्य समय के साथ अपनी सामाजिक मान्यताओं, प्रवृत्तियों, परम्पराओं और पद्धतियों का समय सापेक्ष मूल्यांकन करता रहता है। जैसे-जैसे उसके मस्तिष्क का विकास होता है, उसकी चन्तन प्रक्रिया में तार्किकता के तत्व बढ़ते जाते हैं, और वह घटनाओं के संबंध में कार्य-कारण पद्धति का सूत्र पकड़ने लगता है तो उसके मूल्यांकन की पद्धति लोकात्मक और पारदर्शी हो जाती है। इसी प्रक्रिया में वह समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों का वचारों का त्याग कर नये वचारों को अपनाता है। चेतना में परिवर्तन की इसी विशेषता के चलते सामाजिक चेतना में भी परिवर्तन होता चला जाता है। चेतना के विकास की इस प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए यशपाल कहते हैं कि “आरम्भ में मनुष्य समाज एक अलौकिक शक्ति; नैचमत्त छंजनतंस च्यूमतद्ध की आज्ञा और इच्छा को सामाजिक व्यवस्था का आदर्श मानकर चलता था। अशक्त लोग आज भी अपना भाग्य पीपल के पेड़ या पीर की कब्र की दया पर निर्भर समझते हैं। परन्तु समाज की व्यवस्था को भगवान की इच्छा या अलौकिक शक्ति की प्रेरणा के अनुसार मान कर भी मनुष्य अपनी सामाजिक व्यवस्था से पूर्णतः संतुष्ट न हो सका। उसे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपूर्णता और त्रुटियाँ नजर आती रहीं अपनी परिस्थिति अवस्था और व्यवस्था में त्रुटि अनुभव करना और उसे पूरा करने के उपाय की खोज ही मनुष्य समाज को परिवर्तन और विकास के पथ पर आगे बढ़ाती है।”

सामाजिक चेतना का साहित्यिक साक्ष्य:

चेतना का संबंध मनुष्य और उसके समाज से है। मनुष्य और समाज की सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही साहित्य है। इस लिए वही साहित्य महत्वपूर्ण होता जिसमें मनुष्य का जीवन और उसका समाज यथार्थ रूप में अभिव्यक्ति होता है। ‘साहित्य का उद्देश्य’ पर वचार करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि “साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है। जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सद्ध नहीं होता; जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अवैक दूर नहीं होता; जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के वरुद्ध सर उठाकर खड़ा नहीं हो जाता; जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता, वह पुस्तक कसी काम की नहीं है। कसी जमाने में वाग्विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा, कन्तु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो। “6 साहित्य और जीवन के रिश्ते पर यह एक महत्वपूर्ण टिप्पणी है। जीवन लगातार बदलता रहता है। समाज उससे प्रभावित होता है और साहित्य की श्रेष्ठता इसी में है कि वह उस परिवर्तन को ईमानदारी पूर्वक दर्ज करे। “श्रेष्ठ साहित्य वही होता है जो अपने समय में अंतर्वर्धों से वैचारिक स्तर पर दो-दो हाथ करता है। उन्हें तोड़ता है। और साहित्य में अपनी मानववादी चेतना के द्वारा उसका पुर्निमाण करता है। लोगों की सोच, दृष्टि, भावों वचारों में गुणात्मक परिवर्तन विकास पैदा करता है। जब साहित्य में इस प्रकार के ज्वलंत प्रश्न अपनी पूर्ण शक्ति ईमानदारी प्रतिबद्धता से मूर्त होते हैं तो वह साहित्य अपने युग का सबसे शक्तिशाली आधार बनता है।”

सामाजिक चेतना की यथार्थ और प्रामाणिक प्रस्तुति ही साहित्य को महान बनाती है। महान साहित्य का प्रयोजन मनुष्य मात्र का कल्याण है। कसी भी साहित्यिक कृति के ‘कालजयी’ होने के यह एक प्रामाणिक तर्क है। साहित्यकार युग दृष्टा होता है। अतः वह साहित्य सृजन के समय अपने समय और समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। साहित्य अपने सृजन के माध्यम से एक बेहतर समाज और मनुष्य के बेहतर जीवन का ‘मॉडल’ प्रस्तुत

करता है। हजारी प्रसाद द्ववेदी साहित्य के सरोकारों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि “मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्वीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को दुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।” 8 इसी क्रम में द्ववेदी जी आगे भी कहते हैं कि “साहित्यकार आज केवल कल्पना वलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। संपूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना परमावश्यक है, जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। “अपनी इन दोनों टिप्पणियों में हजारी प्रसाद द्ववेदी साहित्य के सरोकार और उसके सामाजिक उत्तरदायित्व पर महत्वपूर्ण सूत्र दिया है।

सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त करने तथा उसके प्रसार में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। साहित्य में अभिव्यक्त वचन को प्रगतिशील होना चाहिए। जिससे कि मनुष्य के भीतर सही-गलत के वचन का विकास हो सके। सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत साहित्य एक उन्नत समाज और उन्नत राष्ट्र के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान देता है। साहित्य और जनता का संबंध पर टिप्पणी करते हुए ‘ज्दानोव’ ने लिखा है कि “साथियों हमारा साहित्य जनता के लिए देश के लिए जीता है और उसके लिए जीना चाहिए। साहित्य का ध्येय जनता का ध्येय है। इस लिए तुम्हारी हर सफलता को हर महत्वपूर्ण रचना को जनता अपनी ही सफलता समझती हैं। इस लिए हम हर सफल रचना की तुलना बुद्ध या आर्थक मोर्चे की बड़ी जीत से करते हैं। इसके साथ ही सोवियत साहित्य की हर असफलता जनता पार्टी और राज्य को कड़वी लगती है और बुरी तरह अखरती है।”

साहित्य और साहित्यकार का दायित्व जनता के हितों, माँगों, अधिकारों का ध्यान रखना तथा उसके लिए जनता के संघर्षों का साथ देना है। इसके साथ ही यहाँ यह भी सावधानी रखनी होती है कि साहित्य की अपनी स्वायत्ता बची रहनी चाहिए। वचनधारा के आधार पर साहित्य को रंग देना साहित्य के स्वभाव और स्वरूप पर प्रहार है। “जो लेखक अपने आदर्श को दिल के यथार्थ से जोड़कर अपने पात्रों को अपनी मनचाही रीति से रंगता है वह वास्तव में निकृष्ट तथा लल्लो-चप्पों की कला को जन्म देता है और जो जीवन के यथार्थ में रहते पात्रों को अपनी कल्पना से नहीं रंगता, वरन् अपने आदर्श का यथार्थ को सत्य के साथ प्रस्तुत करता है वास्तव में उच्च कोटि का कलाकार होता है वही स्थायी साहित्य का सृजन करता है।” राघेय राघव अपनी इस टिप्पणी में साहित्य और वचनधारा के अंतर्संबंधों पर तार्किक वचन करते हैं। जो साहित्यकार दलीय प्रतिबंधों में न पड़कर जन-जीवन के प्रति ईमानदार होते हैं, वे ही वास्तविक साहित्य को जनता के समक्ष प्रस्तुत कर पाते हैं। इसी कसौटी पर सृजन करने वाले साहित्यकार को आत्मतोष होता है। इसी को आधार बनाते हुए जयशंकर प्रसाद जी ने कहा था “आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है।”

सामाजिक चेतना मनुष्य की चेतना और साहित्यिक चेतना का समुच्चय है। इस संदर्भ में यशपाल ‘दादा कामरेड’ उपन्यास में कहते हैं कि “मौजूदा परिस्थितियों और प्राचीन नैतिक और आचार संबंधी धारणा में कदम-कदम पर वरोध खटकता है, इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह है कि अनुभव होने वाले वरोधों और

उसके कारणों की उपेक्षा कर इस प्रवृत्ति का दमन कर दिया जाय या आचार धारणा को सुरक्षित रखने के लिए परिस्थितियों में आए परिवर्तनों को मटाकर हम फिर से ऋषयुग में लौट जाएँ या फिर समाज के आचार और नैतिक धारणा में नई परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन करें। “13 जिस प्रकार समय के साथ मनुष्य की चेतना में विकास होता है उसी प्रकार सामाजिक चेतना में भी विकास होता है। मनुष्य से लेकर सामाजिक चेतना में हुए इस विकास को साहित्य अपने ढंग से दर्ज करता है। अपने समय के अपने समाज के गौरव, विकास, समृद्धि, उन्नति का प्रखरतम स्वरूप ही सामाजिक चेतना है जो अपने वर्तमान के प्रति तीव्रतम सक्रियता, अतीत के प्रति मोह रहित भाव और भवष्योन्मुखी दृष्टि का निर्माण करती है।

सन्दर्भ -

1. नन्द कशोर आचार्य, आधुनिक वचार, पृ0-55
2. राम वलास शर्मा, भारत में अंग्रेजी राज और माक्रसवाद, भाग-2, पृ0-95
3. नन्द कशोर आचार्य, आधुनिक वचार, पृ0-58
4. अगस्ट काँम्ट, समाजशास्त्र: समाजशास्त्र की अवधारणा तथा तीन स्तरों का नियम पृ0-19
5. यशपाल, माक्रसवाद, पृ-9